सिर्फ़ आदिवासी जीने के लिए मरा जा रहा है

जय प्रकाश

लोक बाबू का उपन्यास 'यह अरण्य तो दंड का है महाराज' माओवादियॅ और राजसत्ता के बीच वर्चस्व के द्वंद्व में घिरे बस्तर के आदिवासियॅ के दुतरफ़ा दमन और उत्पीड़न का मर्मभेदी वृत्तांत है। यह आज के बस्तर के जीवन-यथार्थ और उसमें जनजातीय समुदाय की त्रासद नियति की अचूक पहचान करता है, और उसकी समूची वेदना को अत्यंत मार्मिक ढंग से उजागर करता है।

बस्तर के इस यथार्थ को राजनीतिक विमर्श में अमूमन या तो राजसत्ता के आधिकारिक दृष्टिकोण से देखा जाता है या फिर माओवाद की वैचारिकी और उसकी व्यावहारिक कार्यनीति के सहारे उसका एक प्रतिवादी दृष्टिकोण निर्मित किया जाता है। इस लिहाज से दो भिन्न और परस्पर विरोधी दृष्टियाँ मौजूदा परिदृश्य में सक्रिय हैं। लेकिन बस्तर का एक तीसरा यथार्थ भी है जो इन विमर्शों से बाहर है। यह बस्तर के आदिवासी-समुदाय का अपना जीवन-यथार्थ है बल्कि उनके भोक्तृत्व की चीख़ती त्रासदी है जो अक्सर अनसुनी रह जाती है। लोकबाबू का यह उपन्यास इस तीसरे यथार्थ की एक झलक प्रस्तुत करता है।

बस्तर दरअसल स्वतंत्र भारत में आदिवासी-समुदाय के कथित 'विकास' की अवधारणा और उसकी विडंबना का सटीक उदाहरण बन चुका है। जनजातीय जीवन के प्रति आम तौर पर यह औपनिवेशिक समझ के भीतर बनी धारणा है जो उसकी अल्प भौतिक प्रगति और स्वायत्त नैसर्गिक जीवन में आधुनिक विकास के पैमाने के लिहाज से पिछड़ापन देखती है। स्वतंत्र भारत की नेहरू-एल्विन नीति में भी आदिवासियॅ की सांस्कृतिक स्वायत्तता की चिंता के बावजूद कमोबेश औपनिवेशिक समझ का यही दबाव सक्रिय था। आज की उत्तर-औपनिवेशिक स्थितियॅ में जब आधुनिक विकास के नाम पर पूंजीवादी सभ्यता के चरम की ओर बढ़ती वैश्वीकरण की शक्तियाँ प्राकृतिक संसाधनॅ के निर्मम दोहन को ही सभ्यता के जीवित रहने की बुनियादी ज़रूरत मान लिया गया है, यह औपनिवेशिक मनोवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक आक्रामकता के साथ और सर्वथा नग्न रूप में प्रकट हुई है। मुनाफ़े की हवस में प्रकृति और मनुष्य दोनॅ को जब उत्पादन के लिए संसाधन करार दिया गया हो तो पेड़, पहाड़, जंगल, वनस्पति और मनुष्य की ज़िंदगी का कोई मोल नहीं रह जाता। बस्तर की तरफ़ उसकी प्रकृति और वनसम्पदा, उसकी नदियॅ, वनस्पतियॅ, पहाड़ॅ और उसकी गोद में बसने वाले भोले आदिवासियॅ के नैसर्गिक जीवन की समृद्धि और स ंदर्य के लिए नहीं, बल्कि विकास के नृशंस मापदंडॅ के अनुरूप अपने वांछित संसाधनॅ के लिए गिद्ध-निगाहॅ से 'हॉटबेड' के तौर पर देखा जा रहा है। इन स्थितियॅ में सदियॅ से अपने देवी-देवताओं के साथ जंगलॅ, नदियॅ, पहाड़ॅ के बीच रहने वाले आदिवासी सहसा अपने अस्तित्व के संघर्ष में जूझ रहे हैं। अपने प्रकृत परिवेश की रक्षा के लिए जूझते और इस संघर्ष में लुटते-पिटते इन आदिवासियॅ का जीवन तबाह हो रहा है। उन पर प्रभुत्त्व स्थापित करने की होड़ में लगी ताक़तॅ को उनकी दयनीय स्थिति से ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ता। कथित सभ्य समाज में उनके उत्पीड़न के प्रति संवेदनहीनता इस हद तक व्याप्त है कि आए दिन माओवादियॅ या अर्द्धसैनिक बलॅ के हाथॅ होने वाली उनकी मौतें ठीक तरह से ख़बर तक नहीं बनती। इन मौतॅ की अगर ख़बर बनती भी है तो अन्य ख़बरॅ की तरह जल्द भुला दी जाती है। लेकिन आदिवासी समुदाय की इस बर्बादी को आधुनिक विकास का अनिवार्य परिणाम अथवा उससे स्वाभाविक रूप से उत्पन्न विडंबना-मात्र कह कर टाला नहीं जा सकता। यहाँ सभ्यता का मनुष्य-विरोधी चरित्र निपट नग्न रूप में उद्घाटित होता है। यह उपन्यास इसी सच को उजागर करता है।

आदिवासी-क्षेत्रॅ के आधुनिक विकास को लक्ष्य कर उसके निवासियॅ के जीवन में परिवर्तन लाने के लिए घोषित नीति में उनकी स्वायत्तता का वादा ज़रूर किया गया, लेकिन इस बारे में घोषित प्रतिबद्धता के बावजूद राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता रहा और ग़ैर-आदिवासियॅ द्वारा आदिवासियॅ के शोषण के फलस्वरूप धीरे-धीरे नक्सलियॅ ने बस्तर में दख़ल देना शुरू किया। अंततः बस्तर रणक्षेत्र में तब्दील हो गया। इस बीच नवउदारवादी आर्थिक नीतियॅ के लागू होने के बाद विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनॅ पर कब्ज़े की होड़ शुरू हुई। तब से बस्तर में युद्ध जारी है। सलवा जुडूम-जैसा आंदोलन इस युद्ध के दुर्द्धर्ष हो जाने और, जैसा कि सलवा जुडूम के आयोजकॅ का दावा था, बस्तर में संघर्ष के निर्णायक दौर में दाख़िल हो जाने का मानो खुला आह्वान था। कॉरपोरेट समर्थित सत्ता और अतिवामपंथी उग्रवाद के बीच की लड़ाई में फँसा

आदिवासी-समाज इस आंदोलन में शामिल होने या न होने को लेकर अकारण ही दुविधाग्रस्त नहीं था। यह जीवन-मरण का प्रश्न बन चुकी थी। लोकबाबू ने इस दुविधा और उससे पैदा हुई त्रासदी को आख्यान का विषय बनाया है।

यह सच है कि बस्तर की प्राकृतिक सम्पदा और उसका जैव-सांस्कृतिक वैभव भीषण संकट में है लेकिन उसे रेखांकित करना-भर इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। बाहरी लोगअॅ द्वारा आदिवासियअॅ का शोषण, नैसर्गिक संसाधनअॅ का निर्बाध दोहन, राजसत्ता द्वारा विकास के नाम पर निरंतर किया जा रहा छलावा, आदिवासियअॅ की धार्मिक और सांस्कृतिक विरासत पर आक्रमण आदि का प्रासंगिक उल्लेख उपन्यास में किया गया है। बस्तर का यथासम्भव समग्र परिदृश्य रचने के उपक्रम में यहाँ उसके अतीत और वर्त्तमान के अनेक सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए कथा बुनी गई है। हनगुण्डा, गुण्डाधुर, बूढ़ादेव, रावडअॅगरी के रावबाबा आदि के स्थानीय मिथकअॅ के अलावा राम-वनगमन, दण्डकारण्य का रावण-राज्य का हिस्सा होना, बाणासुर और कृष्ण के साथ युध्द में उसकी पराजय, इक्ष्वाकु के उद्दंड पुत्र दण्ड का स्वेच्छाचार और दण्डकारण्य के उजड़ने का शुक्राचार्य का शाप आदि पौराणिक मिथकअॅ को भी सहज तरीक़े से कथा में पिरोया गया है। बस्तर के पुराणेतिहास और उसकी ऐतिहासिक स्मृतियअॅ को कुरेदती-सहेजती यह औपन्यासिक कथा उसके वर्त्तमान की ज्वलंत वास्तविकता को बारीक़ी के साथ रेखांकित करती है। अतीत और इतिहास-पुराण के सन्दर्भों के अलावा बस्तर के आंतरिक भूगोल के विस्तृत ब्यौरे भी उपन्यास में दिए गये हैं – यहाँ तक कि प्राकृतिक स्थलअॅ का भी प्रसंग के अनुकूल वर्णन है। लेकिन जान पड़ता है कि कथाकार का मक़सद बस्तर की एक समग्र छवि और उसके वर्त्तमान का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना है।

सामाजिक रूपांतरण के एक प्रमुख कारक के रूप में शिक्षा की भूमिका असंदिग्ध है। बस्तर के विकास का एक पहलू शिक्षा की सकारात्मक भूमिका भी है। अशिक्षित आदिवासियअॅ का बाहरी लोगअॅ ने खूब शोषण किया। आज़ादी मिलने के बाद शिक्षा के विस्तार के साथ परिस्थितियाँ धीरे-धीरे बदलीं और शिक्षा का प्रसार हुआ। लेकिन मौजूदा हालात में किस तरह की शिक्षा की आवश्यकता है, उपन्यास इसे लेकर भी सांकेतिक रूप से एक विमर्श प्रस्तुत करता है। पनकू मामा तीसरे दर्ज़े तक पढ़े हैं। वे चाहते हैं कि नई पीढ़ी शिक्षा में आगे जाए। इसलिए इरमा की पढ़ने की उम्र होने पर वे हिड़मा को उसे रामकृष्ण मिशन के विद्यालय में दाख़िल कराने की सलाह देते हैं। इस पर निरमा का जवाब है – 'नहीं मामा, वहाँ तो मैं इसे नहीं पढ़ाऊँगी, भले वह हमारी तरह अनपढ़ ही क्यअॅ न रह जाए। वहाँ बच्चअॅ को हिंदू बनाते हैं। मामा आपको शायद नहीं मालूम हम आदिवासियअॅ के लिए तो हमारा धरम ही भला है।' एक अन्य प्रसंग में, रात के समय जब पूरा परिवार भोजन की तैयारी कर रहा था, कुछ बंदूकधारी अजनबी घर में आए और भोजन की मांग की। उन्हें हिड़मा ने भोजन कराया। ये गुफा पलटन वाले लोग अर्थात माओवादी थे। इरमा से बातचीत करने के बाद उनके लीडर ने हिड़मा को बाल सिंघम स्कूल के बारे में बताया और इरमा को उसमें भरती करने की सलाह दी। हिड़मा ने बाल सिंघम विद्यालय दूर होने के कारण इरमा को वहाँ भेजने से इन्कार कर दिया। इन दो प्रसंगअॅ से स्पष्ट है कि बदहाल सरकारी शिक्षा, रामकृष्ण मिशन की शिक्षा और नक्सली विद्यालयअॅ के बीच चुनाव की स्थिति में सरकारी विद्यालय को ही प्राथमिकता दी जाती है। अपने वर्त्तमान को सँवारने में औपचारिक शिक्षा की भूमिका को आदिवासी अब अच्छी तरह समझते हैं। इसके ज़रिए ही वे अपना भविष्य बदल सकते हैं। लेकिन वर्त्तमान बहुत पीड़ादायक और जटिल है।

बस्तर के इस वर्त्तमान में आदिवासियअॅ का शोषण करने वाली उत्पीड़क सत्ताएँ और विभिन्न दमनकारी शक्तियाँ हैं। इनमें सरकारी कर्मचारी हैं (जिनके लिए यह एक चरागाह है और जो बस्तर के लोगअॅ को न सिर्फ़ हीनतर और अत्यंत पिछड़े के रूप में देखते हैं, बल्कि आदिवासी-संस्कृति को भी एग्जॉटिक या अजूबा समझते हैं । इनमें हिड़मा का छलपूर्वक दैहिक शोषण करने वाला वन-विभाग का मुलाजिम पाणिग्रही है जो उसे अचानक एक दिन छोड़कर तबादले पर चला जाता है या फिर इरमा का सरकारी स्कूल-मास्टर शामिल है जो मुफ़्त मुर्ग़ा खाने के लालच में हूंगा के घर चला आता है), संसाधनअॅ का दोहन करने वाली सरकारी मशीनरी है (जो बैलाडीला के बेशक़ीमती लौह-अयस्क को रेलगाड़ी से विशाखापत्तनम बंदरगाह खींच ले जाती है), बाबा बिहारीदास जैसे कथित समाज-सुधारक हैं (जो आदिवासियअॅ को कण्ठी पहनाकर उनके हिंदूकरण के अभियान में लगे हैं), जंगल ठेकेदार हैं (जो भोले आदिवासियअॅ को तेंदूपत्ता तोड़ने की कम मज़दूरी देकर ठगते हैं और आदिवासी स्त्रियअॅ को महज़ भोग्य वस्तु समझते हैं। भोले आदिवासियअॅ को धूर्त्तापूर्वक फुसलाने का एक प्रसंग यह है कि जंगल में तेंदूपत्ता तुड़वाने वाला सेठ अपने फड़मुंशी को अपना खाना टिफिन डिब्बे सहित दे देता है और उपकृत फड़मुंशी अधिक मज़दूरी की मांग करने पर हिड़मा को सेठ की उदारता का गुणगान करते हुए कहता है – 'जीवन में इतना अच्छा खाना मैं किसी तीज त्यौहार में नहीं खाया था ल। घी चुपड़ी रोटियाँ, भिंडी की सूखी सब्जी, अचार, मुरब्बा और साथ में लाजवाब मिठाई। आज भी याद कर मुँह में पानी आ जाता है।'), आर. पी. सिंह जैसे पत्रकार हैं (जिनके लिए पत्रकारिता महज़ सुविधा

का व्यवसाय है)। और बेशक आदिवासियॲ के बीच गांवॲ में वे कार्यकर्त्ता भी हैं जो अपने बंधु-बांधवॲ के ईसाइयत में धर्मांतरण का विरोध करते हैं लेकिन प्रकृत आदिवासी धर्म छोड़ कर हिन्दू बनाए जाने के प्रयत्नॲ पर चुप्पी साध लेते हैं। बस्तर में बसे ईसाई-उराँव आदिवासी भीमा और उसकी पत्नी के हिन्दू धर्म में वापस आने के लिए दबाव डालने और इसे न मानने पर तोकापाल से बलपूर्वक खदेड़ दिए जाने का हृदयविदारक वृत्तांत उपन्यास में वर्णित है। भीमा की पत्नी लँगड़ा कर चलने के बारे में पूछने पर बताती है तो पत्रकार रमेश, जो स्वयं ईसाई है, च ंक पड़ता है। 'उसे समझ नहीं पड़ रहा था कि इस अरण्य में नक्सलियॲ, सुरक्षा-बलॲ, सरकारी महकमे के अलावा भी कोई और भयभीत करने वाली चीज़ आ गई है क्या?' यह वाक्य साफ़ तौर पर बस्तर के भीतर सक्रिय विभिन्न आततायी सत्ताओं की सटीक पहचान करता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यहीं कथाकार का अपना दृष्टिकोण भी प्रकट होता है। हिंदुत्व-प्रेरित धार्मिक अस्मिता के बस्तर में बढ़ते प्रभाव पर भी उपन्यासकार की नज़र है।

उपन्यास की कथावस्तु बस्तर की दो पीढ़ियॲ की इस संघर्ष-गाथा को प्रस्तुत करती है। इस प्रयत्न में वह दो ऐतिहासिक दौर के सघन विवरणॲ में विकसित होती है।

पहला दौर माओवाद के आगमन के पूर्व का बस्तर है, जबकि दूसरा दौर माओवाद के हस्तक्षेप के बाद का समकालीन बस्तर है। मोटे तौर पर इन्हें उदारीकरण के पहले और बाद का दौर कहा जा सकता है। इस दौरान बदलाव ज़रूर हुए हैं, मसलन सड़कें अब दूरदराज के और अँदरूनी इलाक़ॲ तक जा चुकी हैं और उनके ज़रिए बस्तर के संसाधनॲ तक पैठ बढ़ाने के तमाम प्रबंध कर लिए गये हैं जिनमें प्रशासनिक तंत्र की मूलगामी पहुँच और कॉरपोरेट की दख़ल भी शामिल है। इन बदलावॲ के बीच अगर कुछ नहीं बदला है तो वह है बस्तर का शोषण। अंतर सिर्फ़ यह दीखता है कि उसके तरीक़े और अंदाज़ बदल गए हैं। पहले के दौर में जब स्वतंत्र भारत की राजसत्ता ने बस्तर के 'विकास के लिए' उसकी ज़मीन पर क़दम रखे, सरकारी मुलाज़िमॲ-ठेकेदारॲ की निर्बाध लूट जारी थी और कथित सभ्य समाज की दिलचस्पी सिर्फ़ घोटुल के रात्रि-रहस्य और बस्तर की मोटियारिनॲ की अनावृत्त देह में रह गयी थी। तब बस्तर के सांस्कृतिक जीवन की स्वायत्तता भंग हुई, घोटुल-जैसी संस्था नष्ट हुई, नृत्य-गीत-कला और नैसर्गिक सामुदायिक व्यवहार की लय टूट गयी और आदिवासी-समाज प्रदर्शन या कुतूहल की वस्तु बन गया। वह निष्प्रतिरोध लेकिन आकुल-व्याकुल-सा अपनी ही छाया में मानो सिकुड़ गया था।

बाद के दौर में राजसत्ता पूरी तत्परता के साथ कॉरपोरेट पूंजीवाद की आतुर अगवानी में खड़ी थी और उसके ख़िलाफ़ प्रतिरोध की ताक़त और संकल्प लेकर माओवादी आ धमके थे। उपन्यास में कॉरपोरेट पूंजी के आगमन के न संकेत हैं, न उसके विवरण हैं। बस्तर के आधुनिक औद्योगिक विकास का विमर्श भी यहाँ नहीं है। (उपन्यासकार का उद्देश्य उसके विस्तार में जाने का है भी नहीं। उपन्यास बस्तर के विकास को देखने-समझने का एक अलग ही दृष्टिकोण पेश करता है जो न सत्ता के आधिकारिक विमर्श से मेल खाता है, न ही माओवादी विचार-दृष्टि के अनुकूल जान पड़ता है। उपन्यास के एक पात्र रमेश के इस कथन से विकास के इस आदिवासी-दृष्टिकोण को समझा जा सकता है – 'बस्तर के जंगलॲ में आदिवासियॲ से ज़्यादा तो पुलिस और फौजी जवान ही दिखाई देते हैं। इनको यहाँ रखने पर जितना खर्चा होता होगा उतने से तो आदिवासियॲ का चार गुना विकास हो जाता और नक्सल समस्या ही खत्म हो जाती।') इस कथन में बस्तर के कथित विकास की विडंबना और आदिवासी समाज की आकांक्षा दोनॲ छिपी हुई है। इसके संकेत स्पष्ट हैं। आदिवासियॲ की मांग दरअसल किसी भी बाहरी सत्ता का न्यूनतम हस्तक्षेप अथवा पूर्ण अ-हस्तक्षेप है। उनकी वास्तविक स्वायत्तता इसके भीतर है। लेकिन देश को स्वतंत्रता मिलने और उसके फलस्वरूप आदिवासी-समाज में राजसत्ता के लोकतांत्रिक संस्करण का नया नागरिकशास्त्र लागू होने के बाद आधुनिक शिक्षा, प्रशासन, क़ानून आदि के दायरे में उसके रूपान्तरण की अपरिहार्य प्रक्रिया शुरू हुई। इसके चलते आदिवासियॲ के भीतर शेष समाज की तरह के नागरिक जीवन के भीतर समाहित होने की आकांक्षा पैदा हुई। धीरे-धीरे पढ़-लिख कर नौजवान-पीढ़ी सरकारी नौकरी पा कर आम शहरी की तरह का जीवन हासिल करने के लिए प्रेरित हुई। इरमा का प्रेमी रग्घू इसी पीढ़ी की हसरत का प्रतीक है। सुरक्षा बलॲ द्वारा क्रूरतापूर्वक देह और आत्मा को क्षत-विक्षत न कर दिया गया होता तो इरमा भी खूँखार माओवादी बन जाने की बजाए रग्घू से विवाह कर सामान्य दाम्पत्य जीवन जीने की हसरत लिए एक स्वप्न में डूबी हुई थी। इरमा के माता-पिता –हिड़मा और हूंगा– और पनकू मामा का स्वप्न भी इससे अलग नहीं है। बस्तर का यह निश्छल स्वप्न सलवा जुडूम की आंधी में तिरोहित हो गया और उसकी जगह एक भयानक दुःस्वप्न अवतरित हुआ। क्या विडंबना है कि अपनी प्राकृतिक संपदा खो देने के साथ-साथ बस्तर को जनजातीय जीवन की नैसर्गिकता, स्वराज और सांस्कृतिक स्वायत्तता से भी वंचित हो जाना पड़ा। उपन्यास में राजा प्रवीरचंद्र भंजदेव के प्रति आदिवासियॲ की आस्था और उनकी त्रासद नियति के प्रासंगिक उल्लेख को भी इस सिलसिले में रेखांकित किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रवीरचन्द्र भंजदेव स्वतंत्र भारत में बस्तर की अस्मिता के ज्वलंत प्रतीक थे।

लेकिन माओवादी अतिवादियॅ की प्रचण्ड उपस्थिति और उनके हिंसक प्रतिवाद के वृत्तांत यहाँ मौजूद हैं; साथ ही उनके ख़िलाफ़ राज्य की पुलिस और अर्द्धसैन्य बलॅ की उतनी ही दुर्दांत उपस्थिति भी। माओवादियॅ की हिंसा और राज्य की हिंसा के बीच अब भयावह टकराव है। इस टकराव के बीच आदिवासियॅ के भयभीत, आतंकित और अवसादग्रस्त जीवन की जूझती-ठिठकती जर्जर विश्रृंखल गति है।

हिड़मा और उसकी बेटी इरमा की इस जीवनगाथा में दो पीढ़ियॅ का दारुण वृत्तांत है। माओवाद के पूर्व के आदिवासी-जीवन की समूची पीड़ा हिड़मा के आख्यान में और बाद के दौर के उत्पीड़न की कहानी इरमा के वृत्तांत में पिरोई हुई है। हिड़मा एक ग़ैर-आदिवासी के छल का शिकार होती है और इरमा अर्ध्दसैनिक बल की अमानुषिकता का। ये दो अलग-अलग समय की क्रूरता की दो छवियाँ हैं। पहले सभ्य समाज की स्वार्थपरता थी जो उसकी छलवृत्ति और धूर्तता में दिखाई देती थी। बाद के दौर में में उसे नग्न हिंसावृत्ति और पाशविकता का रूप लेते देर न लगी। पहले दौर के छल और धूर्तता में हिंसा और स्वार्थ छिपा हुआ है। बाद के दौर में वह क्रूर हिंसा में तब्दील हो चुकी है। हिड़मा या इरमा, दोनॅ अत्याचार से पीड़ित स्त्रियाँ हैं। लेकिन एक अपनी विवशता के बीच से जीवन के सूत्र सहेज कर आगे की राह पकड़ती है, और दूसरी आततायी हिंसा के निष्ठुर प्रहार से सहसा अपनी सहज-स्वच्छंद गति और मासूमियत खो देती है लेकिन विवशता और निरुपायता से उबर कर जैसे पुनर्जन्म प्राप्त करती है, फिर अपनी पीड़ा और भीतर के समूचे ज़हर को सॅख कर उसे जलते आक्रोश में तब्दील कर देती है। लोकबाबू ने हिड़मा और इरमा को दो प्रतिनिधि चरित्रॅ के रूप में रचा है जिनके ज़रिए बस्तर की अंतरात्मा की दारुण अंतर्वेदना रूपायित होती है। हिड़मा हालात को बर्दाश्त करती है, लेकिन इरमा प्रतिकार में अपने जीवन का बचा-खुचा अर्थ तलाशती है।

उपन्यास में सलवा जुड़ूम की रैलियॅ का भयावह चित्रण है। इन रैलियॅ का उद्देश्य ग्रामीणॅ को शिविरॅ में भेजना था। जुड़ूम-समर्थक माओवादी-आतंक से त्रस्त ग्रामीणॅ को वहाँ सुरक्षा देना चाहते थे। माओवादियॅ की नज़र में गाँव खाली करा कर बस्तर के जल-जंगल-ज़मीन को लुटेरॅ के हाथॅ स ंपने के लिए शिविर खोले गए थे। उपन्यास में जुड़ूम और अर्द्धसैनिक बलॅ के अतिचार के ब्यौरे विस्तार में हैं, यद्यपि माओवादियॅ के बलप्रयोग के ब्यौरे कम हैं। लेकिन सच कहा जाए तो ये तमाम ब्यौरे दरअसल आदिवासियॅ के निर्मम उत्पीड़न की ही कहानी कहते हैं। जुड़ूम से भयभीत लोग या तो चुपचाप शिविरॅ में जा चुके हैं या भाग कर जंगलॅ में जा छिपे हैं। पनकू मामा और हिड़मा का पूरा परिवार जंगल में है। पनकू मामा और हूंगा एक रात जंगल से गाँव लौटे और घर में पिछले दरवाजे से दाख़िल हुए। उन्हें जंगल से डर नहीं था। 'असल बात यह थी कि जंगल में जंगली जानवरॅ की भारी कमी हो गई थी। उन्हें या तो मार डाला गया था, या फिर शहरॅ के चिड़ियाघरॅ को भेज दिया गया था। जंगल के जानवर शहरॅ की शोभा बढ़ा रहे थे और शहर के लोग जंगल में घुसे जा रहे थे।' कथाकार की यह टिप्पणी आज के इस यथार्थ की क्रूर विडंबना की ओर इशारा करती है जिसमें शहरी जंगली होते जा रहे हैं और जंगल से आदिवासी बेदख़ल हो रहे हैं। वस्तुतः यह एक साभ्यतिक व्यतिरेक है जिसमें तथाकथित सुसंस्कृत समाज अपनी उन्नत सभ्यता के गुमान में, मगर समूचे जंगलीपन और औपनिवेशिक मनोवृत्ति के साथ, जंगल में हस्तक्षेप करता है और उसे अपनी उपभोगचर्या में शामिल कर लेता है।

इस सचाई का खुलासा करते हुए कथाकार ने व्यंग्य और कटाक्ष का सहारा लिया है। इस सिलसिले में एक प्रसंग उल्लेखनीय हैं। जंगल में विचरण करते हुए कुछ शहरी जानवर तो कहीं भी नहीं देख पाते लेकिन कहीं-कहीं सूखी-सुडौल और भसभसी लेंडियाँ देख कर अटकलें लगाते कि यह शेर की लेंडी है या भालू की। प्लास्टिक की थैलियॅ में उन्हें भर कर वे ग्रामीणॅ की राय जानना चाहते तो ऊपर-नीचे सिर हिलाकर ग्रामीण हर बार हामी भरते। वे उन्हें कैसे बताते कि जानवरॅ की तरह कंद-मूल-फल-फूल घास-फूस, पालतू जानवर और कीड़े-मकोड़े खा कर जो वे शौच करते हैं, ये लेंडियाँ उन्हीं से जन्मी हैं। यहाँ व्यंग्य के तीखेपन और आदिवासियॅ की विवशता का विलक्षण संयोजन दिखाई देता है।

जंगल और शहर के इस अंतर्विरोध को कथाकार ने अन्यत्र भी व्यंग्य का विषय बनाया है। बस्तर के छोटे कस्बाई शहर कांकेर में पला-बढ़ा पत्रकार रमेश पहली बार जगदलपुर शहर को देखकर अचरज से भर जाता है कि 'दंडकारण्य के बीच में स्थित यह कंक्रीट का शहर कैसे इतना फल-फूल गया है, जबकि अरण्य घटता-सिकुड़ता छोटा हुआ जा रहा है। यह शहर उसे अरण्य पर लगे अमरबेल की तरह प्रतीत हुआ – परजीवी आत्मकेंद्रित और अपनी श्रेष्ठता पर इतराता हुआ।' कहने की ज़रूरत नहीं है कि कहीं-कहीं विकास के टापुओं की तरह बस्तर में कुछ छोटे शहर खड़े हैं। वे उसके निर्मम दोहन की दास्तान और कथित विकास के अंतर्विरोधॅ का खुलासा अपने आप करते हैं।

केवल जंगल सिकुड़ कर नहीं रह गए हैं बल्कि उनके बीच पहाड़-डअॅगरी के गर्भ में मौजूद खनिज संसाधन की लूट भी बड़े पैमाने पर हुई है। भीमा उराँव से बातचीत के दरम्यान पत्रकार रमेश को रेलगाड़ी की सीटी की आवाज़ सुनाई देती है। पूछने पर पता चलता है, यह बैलाडीला से कच्चा लोहा विशाखापट्टनम बंदरगाह ले जाने वाली गाड़ी है। रमेश को उत्सुकता होती है इस तरह पचास सालअॅ से लोहे की ढुलाई अगर हो रही है तो पहाड़ अब तक चपटे हो गए हअॅगे। भीमा अंकल बताते हैं कि अभी तो नहीं लेकिन एक दिन ज़रूर ऐसा हो जाएगा। वे कहते हैं –' बेतरतीब तरक्की …. पता नहीं किसको इसका फ़ायदा मिल रहा है? मगर एक दिन ज़रूर यहाँ के सारे पहाड़ खोद दिए जाएँगे। जंगल काट दिए जाएँगे और भूखे-नंगे आदिवासिअॅ को मारकर, मसाला भरकर अजायबघर में टाँग दिया जाएगा। सुना है, अंतागढ़ की तरफ़ राव डअॅगरी को निपटाने के लिए भी रेल पटरियाँ बिछने वाली हैं। फिर तो नंदराज पहाड़, मुरगा पहाड़ और दूसरे भी जिनमें आदिवासिअॅ की आस्था जुड़ी है, खत्म हो जाएंगे।' बस्तर इसी भीषण भविष्य की ओर बढ़ रहा है। जहाँ-जहाँ पूंजी के क़दम पड़े हैं, लूट और शोषण का यही तंत्र सक्रिय है। प्रकृति-पुत्रअॅ की नियति इसी बर्बादी की दिशा में बढ़ रही है। बस्तर में इन हालात को उपन्यास के पात्र रग्घू के इस कथन से समझ सकते हैं –'यहाँ सबको अपने विकास की पड़ी है रमेश भाई! सिर्फ़ आदिवासी जीने के लिए मरा जा रहा है।'

यह उपन्यास आदिवासी-जीवन की दारुण सचाई को व्यक्त करता है, लेकिन यह आदिवासी-विमर्श का परचम उठाने वाला उपन्यास नहीं है। इसलिए कि इसमें चालू क़िस्म का अस्मिता-विमर्श नहीं है।